Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies
Online ISSN 2278-8808, SJIF 2026 = 8.727
https://www.srjis.com/issues_data/290
Peer Reviewed & Refereed Journal, MAR-APRIL 2026, Vol- 14/94
https://doi.org/10.5281/zenodo.20084151

पूर्व मध्यकालीन उत्तर भारतीय इतिहास की सामाजिक संरचना : एक विश्लेषणात्मक विवेचना

डॉ0 सुशील कुमार

राघोपुर, सुपौल (बिहार), G-mail- gspsushil95@gmail.com

Paper Received On: 20 MAR 2026

Peer Reviewed On: 24 APRIL 2026

Published On: 01 MAY 2026

Abstract

इतिहास मानवीय विकास की एक अनादि एवं अनन्त धारा है और उस अनादि और अनन्त धारा को युगों में विभाजित करना अस्वाभाविक ही नहीं दुश्कर भी है, परन्तु अध्ययन की सुविधा के लिये इतिहास को युगों या कालों में विभाजित करना हमारी वौद्धिक विवशता है। पूर्व मध्यकाल में विदेशी आक्रमणों, सामन्ती प्रवृत्तियों के विकास और तीव्रगति से बौद्ध धर्म के पतनोन्मुख होने की परिस्थितियों में जाति व्यवस्था को नियमित करने एवं क्रियान्वित करने के प्रयास दिखाई पड़ते हैं। सम्पूर्ण रूप से देखने पर स्पश्ट होता है कि पूर्व मध्यकाल में जाति व्यवस्था द्रुतगति से कठोर हो गयी थी और पर्यांत रूप से इसका विस्तार भी हुआ। जाति व्यवस्था के विस्तार के प्रमुख कारणों में विदेशी एवं देशी तत्वों का समायोजन, कर्मकाण्डीय एवं क्षेत्रीय पृथकत्व एवं कायस्थ जैसे कुछ व्यावसायिक समूहों का ठोस रूप धारण करना प्रतीत होता है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि हूणों के आक्रमण, गुप्त साम्राज्य के पतन और उसके परिणाम स्वरूप अव्यवस्था एवं अशान्ति ने स्थापित सामाजिक व्यवस्था में गंभीर अशान्ति पैदा कर दी थी। पुराणों के उल्लेखों में विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा उत्पन्न सामाजिक उपद्रवों से हूणों के निश्चित योगदान की जानकारी तो इस संदर्भ में नहीं प्राप्त होती किन्तु कल्हण की राजतरंगिणी हूणों के आक्रमण के समय कश्मीर की स्थिति पर प्रकाश डालती है। राजतरंगिणी के अनुसार अपवित्र दारदों, भाट्टों और म्लेच्छों द्वारा रौंद दिये जाने पर वह देश धर्म (वर्णाश्रम धर्म) खो चुका था, मिहिर कुल ने स्वयं आर्यों के देश से लोगों को बसाकर धार्मिक आचरण के पालन में लागू किया था और उसने ब्राह्मणों को एक हजार अग्रहार प्रदान किया था।[2] विदेशी आक्रमणों एवं राजनीतिक अशान्ति से प्रभावित उत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों में भी लगभग यही स्थिति प्रतीत होती है। यशोधर्मा के मन्दसोर पाशाण स्तम्भ अभिलेख में भी इस युग को 'अच्छे आचरण का विनाशक' कहा गया है।[3] कौशाम्बी उत्खनन से प्राप्त तोरमाण हूण एवं हूणों से सम्बन्धित बाणाग्र, मोहरें एवं अन्य पुरातात्विक सामग्रियां हूणों के कृत्यों पर प्रकाश डालते है।[4] देवी भगवत में भी गंगा घाटी में हूणों के निवास की स्मृतियां मिलती है। इन परिस्थितियों में विदेशियों को आत्मसात् करने एवं जाति–कर्तव्यों को सुनिश्चित करने की महान आवश्यकता का अनुभव किया जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसीलिये गुप्तोत्तर कालीन अनेक अभिलेखों एवं साहित्यिक ग्रन्थों में अनेक शासकों द्वारा जाति व्यवस्था को नियमित एवं शक्तिशाली बनाने के संदर्भ मिलते है।

कूट शब्द *: पतनोन्मुख, द्रुतगति, योगदान, वर्णाश्रम–धर्म, भाट्ट, आत्मसात्, शक्तिशाली।*

सामाजिक संगठन

पूर्वमध्य कालीन ग्रन्थों में भी उनके परम्परागत कर्तव्यों पर बल देते हुये कहा गया है कि तीनों उच्चतर वर्णों की सेवा उनका कर्तव्य है। बृहद्धर्म पुराण में तो यहां तक कहा गया है कि उन्हें उच्चतर वर्णों की पूजा करनी चाहिए। किन्तु उनके अन्य व्यवसाय या जीविका के सम्बन्ध में वही व्यवसाय

Copyright © 2026, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

बतलाये गये हैं जो वैश्यों के लिये हैं।[5] पराशर के अनुसार कृशि, वाणिज्य एवं शिल्प वैश्य एवं शूद्र दोनों के व्यवसाय है। अनेक व्यवस्थाकार शूद्रों के लिये केवल कृशि का विधान करते है और कुछ अन्य केवल औद्योगिक कलाओं का।[6] भोज के समरांगण सूत्रधार के अनुसार पशुपालन के साथ कला एवं शिल्प शूद्रों का व्यवसाय है। संरागण सूत्रधार एवं गृहस्थ काण्ड में औद्योगिक कलाओं पर विशेश आगह्न संभवतः 11वीं–12वीं सदियों में उद्योगों के विकास से सम्बन्धित है। इस प्रकार तीनों वर्णों की सेवा के अतिरिक्त शूद्रों का प्रमुख व्यवसाय कृशि एवं शिल्प था और वास्तविक कर्मचारियों के रूप में वे कृशि या उद्योग में अपने सामंत स्वामियों के लिये कार्य करते थे। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ शूद्र दूसरों पर आश्रित नहीं थे क्योंकि लक्ष्मीधर ने उन्हें दो कोटियों में विभाजित किया है– आश्रित और अनाश्रित। स्पश्ट है कि अनाश्रित शूद्रों ही कभी–कभी स्थानीय समितियों में सदस्य होते थे, राजा की सेवा में उच्च पद प्राप्त करते थे और कभी–कभी कुलीनशासक वर्ग में सम्मिलित होते थे।[7]

आपद्धर्म :

पूर्व मध्यकालीन आपत्ति–कालीन कर्तव्यों (आपद्धर्म) की परम्परागत अवधारणा, जो हमें लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरू में भी मिलती है, के अनुसार : जब आपातकाल में अपने वर्ण (जाति) के लिये सुरक्षित व्यवसाय उपलब्ध न हो तो अस्थायी रूप में कोई भी व्यक्ति अपने जाति से नीचे की जाति का व्यवसाय ग्रहण कर सकता है किन्तु अपने से उच्चतर जाति के व्यवसाय को नहीं। शूद्रों को सामान्यतः आपत्ति के समय वैश्यों के व्यवसाय ग्रहण करने की अनुमति थी। परम्परागत धर्मशास्त्र आदर्श ब्राह्मणों के व्यवसायों की सुरक्षा करता था, उच्चवर्णों को निम्न और अपवित्र व्यवसायों से दूर रखता था तथा वैश्यों एवं शूद्रों को राजनीति एवं शासक से पृथक रखता था। लक्ष्मीधर ने राजा को निर्देश दिया है कि वह निम्न जाति के उस व्यक्ति को दण्डित करे जो ब्राहमणों के व्यवसायों को अपनायें। किन्तु कुल्लूकभट्ट का विचार है कि आपात् काल में क्षत्रियों के व्यवसाय केवल ब्राहमणों के लिये ही नहीं वैश्यों एवं शूद्रों के लिए भी खुले है। संभवतः तुर्कों के आक्रमण से उत्पन्न परिस्थितियों में परम्परागत व्यवस्थाकार भी वस्तु स्थिति के प्रति सजग थे।[8]

सामान्य धर्म के रूप में कृषि का अवधारणा :

नैतिक गुणों का अभ्यास सभी वर्णों के लिये सामान्य कर्तव्य माना जाता था। विश्णुधर्मोत्तर ने इसमें राजा के प्रति भक्ति भी जोड़ दिया। इसी प्रकार पूर्व मध्यकाल में सभी वर्णों के सामान्य धर्म के अन्तर्गत कृशि को भी सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रवृत्ति को सामंती प्रवृत्तियों के उत्कर्श के फलस्वरूप समाज के कृशि प्रधान स्वरूप से जोड़ा जा सकता है। कृशि में एक ओर विभिन्न स्तर के बड़े भूस्वामी लगे थे तो दूसरी ओर छोटे किसान, आश्रित किसान, हलवाहे और अन्य भू–श्रमिक लगे हुये थे। प्राचीन काल में कृशि को वैश्यों का विशिश्ट व्यवसाय माना जाता था, किन्तु पूर्व मध्यकाल की सामंती परिस्थितियों में इसे चारों वर्णों से जोड़ दिया गया।[9] जैसा कि प्रो0 वी0एन0एस0 यादव ने दिखाया है, जिस प्रकार अपने हाथ से खेत न जोतने वाले वर्ण में चारों वर्णों के लोग सम्मिलित थे,

Copyright © 2026, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

उसी प्रकार कृर्शक वर्ग में भी चारों वर्णों के लोग आते थे। इस प्रकार पूर्व मध्यकाल में राजनीतिक–सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तनों ने वर्ण–व्यवस्था में अनेक परिवर्तन एवं संशोधनों को ला दिया था।[10]

वर्ण और आश्रम का सम्बन्ध :

पूर्व मध्यकाल में इस चतुराश्रम व्यवस्था में कछ परिवर्तन दिखाई पड़ता है। कतिपय पुराणों एवं विधि ग्रन्थों का कथन है कि कलियुग में ब्रहाचर्य के दीर्घ काल तक पालन एवं वानप्रस्थ में प्रवेश से बचना चाहिए। प्रारंभिक विवाह के व्यापक प्रचलन के कारण धर्मशास्त्र में वर्णित विधि से अनेक लोगों के लिए प्रथम आश्रम को व्यवहार में लाना कठिन था। शंकर और रामानुज के अनुसार, साधन के अभाव में लोग विभिन्न आश्रमों में प्रवेश नहीं कर पाते थे, अथवा गरीबी के कारण आश्रम से बाहर रहते थे। किन्तु साधन–सम्पन्न लोग एक आश्रम से दूसरे आश्रम में सन्यास आश्रम तक अपनी यात्रा पूर्ण करने का प्रयन्त्र करते थे। विरूद्ध–विधि–विध्वंस के अनुसार पृथ्वीराज चौहान का एक मंत्री स्कन्द चतुर्थ आश्रम में प्रवेश किया था। कुछ अभिलेखीय साक्ष्य स्पश्ट करते है कि कतिपय राजाओं ने अपने राज्य कार्य से सन्यास ग्रहण कर एकान्त में जीवन बिताया था।[11] हम यह नहीं कह सकते कि इन सभी उदाहरणों में लोग तीसरे आश्रम में प्रवेश किये थे।

ब्राह्मणों की स्थिति :

पूर्व मध्यकालीन कुछ अभिलेखों में परम्परागत छः कर्तव्यों के प्रति ब्राह्मणों की अनुरक्ति का वर्णन है। श्रोत्रिय एवं आचार्य उपहार के लिए सबसे योग्य माने जाते थे। प्रतिग्रह के सम्बन्ध में कुछ व्यवस्थाकार राजाओं से प्रतिग्रह पर विशेश बल देते थे। किन्तु परम्परागत विचार के अनुसार अभी भी शिक्षण, यज्ञ एवं प्रतिग्रह में प्रतिग्रह को ब्राह्मणों का सबसे निम्न जीविका का साधन माना जाता था।[12] पुरोहित का कार्य करने वाले ब्राह्मणों की संख्या पर्याप्त विशाल थी। लेकिन पुरोहित वर्ग एक समान नहीं था। राजाओं एवं सामन्तों के पारिवारिक पुरोहित भूमि अनुदानों एवं अन्य उपहारों के कारण पर्याप्त सम्पत्ति एवं सम्मान वाले थे। मंदिर पुरोहित यद्यपि ब्राह्मण समाज में उच्च स्थान नहीं प्राप्त करते थे। किन्तु मन्दिर पूजा के प्रचलन एवं राजाओं, सामन्तों एवं अन्य सम्पन्न लोगों से प्राप्त अनुदानों के फलस्वरूप मंदिर के भूस्वामी हो जाने से काफी प्रभावशाली हो गये थे। कश्मीर में मंदिर पुरोहित संघ के सदस्य अपनी मांगों को मनवाने के लिए भूख–हड़ताल करते थे।[13] त्रिशश्टिशलाका–पुरूश–चरित में हेमचन्द्र ने भी दिखाया है कि स्थानीय तौर पर पुरोहित वर्ग संगठित रहता था। इसके अतिरिक्त, उच्च जातीय परिवारों के पुरोहित अपने को निम्नजातियों के पुरोहितों एवं सार्वजनिक तथा ग्राम स्तर पर पुरोहितों से अलग समझते थे। पुराण श्रवण की बढ़ी हुई लोकप्रियता के कारण पुराण वाचक ब्राह्मणो का भी महत्वपूर्ण वर्ग विद्यमान था। यह उल्लेखनीय है कि एक अध्यापक के रूप में ब्राह्मण एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य का सम्पादन करते थे। केवल वे ही वेद पढ़ाने के लिए अधिकृत थे। अग्रहार ग्राम एवं मंदिर अध्ययन के केन्द्र थे। सुप्रसिद्ध अध्यापक ग्राम अनुदान प्राप्त करते थे।[14] ब्राह्मणों का एक

Copyright © 2026, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

समुदाय ज्योतिशशास्त्र को अपना व्यवसाय बनाये हुये था किन्तु अधिकांशतः यह लोग ब्राह्मणों से अपना सम्बन्ध बनाये हुये थे। अनेक ब्राह्मण राजाओं एवं सामन्तों की सेवा में पुरोहित, सेनापति, न्यायाधीश, ज्योतिशी आदि थे। ब्राह्ममण भूस्वामी शासक वर्ग बन गये थे। कुछ ब्राह्मण अपने परम्परागत कार्यों को छोडक़र राजनीति एवं युद्ध में भाग लेने लगे थे। उनमें से कुछ शासक एवं सेनानी हो गये थे, क्षत्रिय के रूप में मान्यता प्राप्त कर लिये। अनेक ब्राह्मण जो राजकुमारों के दरबार में जाते रहते थे–चारण बन गये। अलबरूनी के अनुसार कुछ ब्राह्मण कपड़ों एवं सोपाड़ी का व्यापार करते थे।

नवीं सदी के पहोवा अभिलेख में एक ब्राह्ममण वामुक का उल्लेख एक घोड़े के व्यापारी के रूप में हुआ है। सियादोनी अभिलेख में एक धमाक नामक ब्राह्मण पान बेचने वाला है। व्यापारी ब्राह्मणों के समूह को वल्लाल सेन ने अपने कर्तव्यों से च्युत ब्राह्मण कहा है। कथाकोश के अनुसार ब्राह्मण छोटे किसान (खेत जोतने वाले) भी थे।[15] क्षेमेन्द्र ने दशावतारचरित में दिखाया है कि ब्राह्मण निम्न श्रेणी के व्यवसाय भी करते थे, जैसे शिल्पियों, नर्तकों, मदिरा बेचने वालों, मक्खन, घी, दूध, नमक आदि के व्यवसाय/कुछ अन्य अपने धार्मिक कर्तव्यों को छोड़ चुके थे जिन्हें पवित्र समझा जाता था। सुभाशितरत्न कोश एवं सदुक्ति–करूणामृत जैसे पूर्व मध्यकालीन ग्रन्थों में ब्राह्मणों के एक ऐसे गरीब वर्ग का चित्रण किया गया था, जिसमें बुद्धिजीवी एवं वेदों के ज्ञाता भी सम्मिलित थे। इन ब्राह्मणों के गरीबी के कारणों में पुरोहित पेशे में अत्यधिक भीड़, लोकप्रिय पौराणिक हिन्दू धर्म के उदय के कारण वैदिक पुरोहित के लिए अल्प अवसर, तान्त्रिक एवं अन्य धर्मों की लोक प्रियता एवं शासक वर्ग के समर्थन की कमी महत्वपूर्ण है।

जहां तक ब्राह्मणों के विभाजन अथवा वर्गीकरण का प्रश्न है, प्रारंभिक काल में गोत्र, प्रवर एव शाखा के आधार पर विभाजित ब्राह्मणों का उल्लेख पूर्व मध्य कालीन अभिलेखों में भी मिलता है। लक्ष्मीधर ने देवल को उद्धृत करते हुये दिखाया है कि वैदिक अध्ययन की सीमा, निर्धारित कर्तव्यों के अनुपालन एवं नैतिक उपब्धियों के मानक के आधार पर ब्राह्मणों को आठ भागों में विभाजित किया जा सकता है। मिताक्षरा व्यवसाय एवं आचरण के आधार पर ब्राह्मणों को दस समूहों में विभक्त किया है– देव, मुनि, द्विज, राज, वैश्य, शूद्र, मार्जार, जंगली जानवर, म्लेच्छ एवं चाण्डाल अत्रिस्मृति में क्षत्र–ब्रहम (सेनानी) एवं निशाद–ब्रह्म (चोर, डाकू) का भी उल्लेख है।[16] क्षेत्रीय आधार पर ब्राह्मणों का विभाजन हमें इन्द्र तृतीय कालीन एक राश्ट्रकूट चार्टर (926ई0) में मिलता है, जिसमें उत्तर भारत के ब्राह्मणों के पांच वर्गों का उल्लेख है, जो कालान्तर में सामान्य हो गये। इस अभिलेख में ब्राह्मणों के आर्य देशीय महापरिशद एवं पचं गौड़ीय महापरिशद का उल्लेख मिलता है जो सम्मान में निवास करते थे। ये पाँचों वर्गों के ब्राह्मण सारस्वत, कान्यकुब्ज, उत्कल, मैथिल और गौड़ हैं। अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि गुजरात एवं राजस्थान के ब्राह्मण, मोध, उदीच्च, नागर, प्रागीव, दध्या अथवा धामा, पुश्कर धरकत्र, ओसवाल, गगुली, रायकवाल आदि में विभक्त थे। गोरखपुर से प्राप्त अभिलेखों में सरूवार आरै सरयूपार शब्द मिलते हैं, जिन्हें परवर्ती सरयूपारी ब्राह्मणों से सम्बन्धित किया जा सकता

Copyright © 2026, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

है। इसी प्रकार बंगाल के ब्राह्मण दो वर्गों के विभक्त थे–राधीय एवं वारेन्द्र जो उनके निवास स्थान पर आधारित है।[17] बंगाली ब्राह्मणों की उपजातियां मुखोपाध्याय, बन्दोपाध्याय एवं चट्टोपाध्याय बाद में उनके गांवों के नाम से उत्पन्न हुयी। राजस्थान के समीपवर्ती क्षेत्रों से प्राप्त अभिलेखों में आवस्थिक, पुरोहित, द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी, मिश्र, दीक्षित एवं त्रिपाठी के उल्लेख मिलते हैं।

इस काल में क्रमशः उत्तर भारत राजस्थान एवं गुजरात के अन्तर्वेदि, श्रीमाल एवं आनन्दनगर अथवा नागर ब्राह्मणों में एक प्रकार की सांस्कृतिक श्रेश्ठता की प्रवृत्ति मिलती है।[18] बारहवीं सदी में नागर ब्राह्मण वाराणसी में भी स्थापित हो गये थे और वे एक बहुत ही सम्मानीय समूह के रूप में जाने जाते थे। रूढ़िवादी लोग कुछ क्षेत्रों एवं देशों को अपवित्र समझते थे, जैसे सौराश्ट्र, सिन्धु, दक्षिणापथ, कलिंग एवं सीमावर्ती क्षेत्र, वहां स्थायी रूप से बसने वाले ब्राह्मण भी अपवित्र माने जाते थे, जो वहां यात्रा करते थे वे भी संस्कारों के द्वारा ही पवित्र होते थे। विवाह और यज्ञ सम्पादन अंग, वंग, मालवक, सिन्धु के उत्तर स्थित देश एवं नर्मदा दक्षिण स्थित क्षेत्र तथा पुण्ड्र, सौराश्ट्र, मगध एवं केरल इत्यादि में वर्जित थे। इस प्रकार के नियम केवल निशेधात्मक नियमों के विकास मात्र से व्याख्यापित नहीं किये जा सकते अपितु अन्ततः ये आन्तरिक संस्कृति एवं अर्थ–व्यवस्था के संकुचित होने की अभिव्यक्ति हैं। किन्तु मेधातिथि इस प्रकार के विचारों को स्वीकार नहीं करते।

क्षत्रियों एवं राजपूतों की स्थिति :

पूर्व मध्यकालीन भारत के सामाजिक जीवन की सर्वप्रमुख विशेशताओं में एक विशेशता है राजपुत्रों या राजपूतों का उदय, जिनमें क्षत्रियत्व एवं शौर्य की भावनायें भरी हुयी थीं। वे सातवीं–आठवीं शताब्दियों से विकसित होने लगे और सदी तक उनके छत्तीस कुल उत्तर भारत में अत्यन्त प्रसिद्ध एवं परम्परागत हो गये थे। वीरता एवं स्वामी के प्रति स्वामिभक्ति राजपूत सिपाहियों की सर्वश्रेश्ठ विशेशतायें थी। राजपुत्र शब्द पूर्ववर्ती युगों में राजा के पुत्र के लिये प्रयुक्त होता था, किन्तु पूर्व मध्यकाल में इसका प्रयोग सैनिक कुलों एवं गाँव के छोटे प्रमुखों (भूस्वामी शासकों) के लिये होने लगा।

एक आधुनिक मत के अनुसार बाहरवीं सदी तक क्षत्रिय परम्परागत द्वितीय वर्ण के उत्तराधिकारी से अधिक राजपुत्रों (अर्थात् शासक परिवारों एवं योद्धा प्रमुखों) का प्रतिनिधित्व करते थे। जहां तक क्षत्रिय जाति में राजपुत्रों के सबसे प्रभावशाली वर्ग होने का विचार है यह विचार उचित है किन्तु यह मन्तव्य ठीक नहीं प्रतीत होता कि राजपुत्रों के विभिन्न कुल एवं समूह द्वितीय वर्ण से सम्बन्धित नहीं थे। राजपूतों के विदेशी उत्पत्ति के विचारों का खण्डन करते हुये सी0वी0 वैद्य ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि राजपूत पवित्रतम क्षत्रिय थे जो भारतीय वैदिक आर्यों के सबसे अधिक शौर्यवान प्रतिनिधि थे।[19] लगभग इसी प्रकार का विचार गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का भी है, जिन्होंने विदेशी एवं देशी उत्पत्ति के सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित किया है।[20] ऐसा प्रतीत होता है कि राजपूत जातियों का उद्भव जहां एक ओर विभिन्न देशी जनसंख्या–क्षत्रिय, ब्राह्मण एवं कुछ जनजातियों से हुआ, वहीं दूसरी ओर

Copyright © 2026, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

इसमें विदेशी आक्रमणकारियों के स्तर के लोग थे जो यहीं बस गये आरै भारतीय सामाजिक–व्यवस्था में आत्मसात कर लिये गये।

दसवीं सदी के अरब यात्री इब्न खुर्दादब के विवरणों के आधार पर क्षत्रिय समुदाय को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– सत्क्षत्रिय एवं क्षत्रिय। इसी प्रकार दसवीं सदी के एक अभिलेख में भटिण्डा के एक स्थानीय परिवार से सम्बन्धित राजा अपने को सुक्षत्रियान्वय–विभूशण कहता है। सत्क्षत्रिय का उल्लेख वत्सराज के किरातार्जुनीय में मिलता है। द्वयाश्र में क्षत्रियों के इस विभाजन को शुद्धक्षत्रिय एवं अन्य के रूप में स्पश्ट किया गया है। वर्णत्नाकर में राजपूत कुलों की दो सूचियां मिलती है–एक में छत्तीस कुलीन वंश (शुद्धकुल) आते हैं और दूसरी में अन्य कुलों के लोग जिसमें कुछ पहले सूची के भी है।[21]

राजतरंगिणी में राजपूत क्षत्रियों के छत्तीस कुलों का उल्लेख हैं वर्णत्नाकर भी छत्तीस शुद्ध राजपूत कुलों की सूची देता है। इसके अतिरिक्त इसमें अन्यत्र बहत्तर राजपूत कुलों का वर्णन है, किन्तु कुछ पुरावृत्ति के साथ राजपूतों के चौंसठ कुलों का ही वर्णन है जिसमें शुद्ध राजपूत कुल भी सम्मिलित हैं। तेरहवीं सदी के कुछ राजस्थान के अभिलेखों में राजपूतों के उप–समूहों का भी वर्णन है जैसे–देव चौहान आरै संगिरा चौहान। बारहवीं सदी तक शासक वर्ग के क्षत्रिय अनेक क्षेत्रों में एक विस्तृत स्तरीकरण में व्यवस्थित हो चुके थे–जिनमें राजपुत्र, सामंत, महासामंत, माण्डलिक एवं महामाण्डलिक सम्मिलित थे और सभी एक महाराजराधिराज के अधीन थे। अपराजित पृच्छा से ज्ञात होता है कि राजपुत्र के अधीन एक या एक से अधिक गाँव होते थे और इनकी संख्या विशाल थी।

आर0एस0 शर्मा का कथन है कि क्षत्रिय वर्ण में जातियों का बाहुल्य मुख्य रूप से राजपूत कहे जाने वाले नये समुदाय के उदय के कारण हुआ। जातीय एवं पारिवारिक गौरव की भावना का जैसा प्रबल विस्फोट राजपुत्रों में हुआ वैसा किसी समुदाय में नहीं हुआ। संभव है उनमें कुछ मूल क्षत्रिय वर्ण की संतति रहे हो।[22] चालुक्य, चंदेल, पाल आदि राजवंश शायद मूलतः स्थानीय जनजातियों के सुसंस्कृत रूप थे, जिन्हें ब्राह्मण पंजीकारों ने सम्मानीय वंश–परम्परा प्रदान की। वैक्ट्रियाई यूनानियों, शकों, पार्थियाइयों आदि को हिन्दू समाज में द्वितीय श्रेणी के क्षत्रियों के रूप में सम्मिलित किया गया था। इसी प्रकार हूण तथा गुर्जर जैसे मध्य एशियाई लोगों को राजपूत रूप में उनमें शामिल किया जाने लगा। मगर ऐसा सोचना गलत है कि सभी विदेशी कवीलों को क्षत्रियों तथा राजपुतों के रूप में ही स्वीकार किया गया, क्योंकि कालान्तर में गुर्जर लोग राजपूतों में ही नहीं बल्कि ब्राह्मणो, बनियो, कुम्हारों और सेनारों में भी बट गये। बहुत से आर्येतर कबीलों को भी आर्य गोत्र प्रदान करके ब्राह्मण बना दिया गया था। ऐसा मुख्य रूप से दक्षिण भारत एवं दकन में हुआ।

वैश्यों की अवनति एव शूद्रों का उत्थान :

परम्परागत रूप में वैश्य कृशि, व्यापार और पशुपालन के कार्य करते थे किन्तु पराशर जैसे व्यवस्थाकार कृशि, वाणिज्य एवं शिल्प वैश्य एवं शूद्रों दोनों के लिये संस्तुत करते है। गृहस्थकाण्ड में

Copyright © 2026, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

उद्घृत देवल भी दोनों जातियों के लिये समान व्यवसाय का उल्लेख करते हैं।[23] सामन्ती प्रवृत्तियों के उदय के कारण पूर्व मध्य काल के प्रथम चरण में वैश्यों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति में गिरावट हुई, किन्तु ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दियों में व्यापार एवं वाणिज्य के अपेक्षाकृत उन्नति के कारण वैश्यों के एक वर्ग की स्थिति में सम्पन्नता आई और गुजरात क्षेत्र में वे सामन्त स्तर को प्राप्त करने लगे।[24]

यद्यपि वैश्य भी अनेक उपजातियों में विभाजित थे, किन्तु पूर्व मध्यकाल में शूद्र जातियों की संख्या में सबसे अधिक वृद्धि हुई। विश्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि वैश्य स्त्रियों तथा निम्नतर जातियों के पुरूशों के समागम से हजारों वर्ण संकर जातियों का जन्म होता है। जब उन्नत खेती वाले क्षेत्रों में ब्राह्मणीय समाज में रहने वाले राजे–रजवाड़ों ने जंगली और पहाड़ी क्षेत्रों में पिछड़े लोगों पर विजय पाई तो इससे भी शूद्र जातियों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। मध्य भारत के एक मध्यकालीन अभिलेख में शबरों, मिल्लों, पुलिन्दों आदि के दमन का उल्लेख है। यह उल्लेखनीय है कि विजित क्षेत्रों में पुरोहितों को दिये गये भूमिदान के फलस्वरूप वहाँ के मूल निवासियों को ब्राह्मणीय समाज में सम्मिलित किया गया। ब्रह्म वैवर्त पुराण के अनुसार कबायली लोगों को ब्राह्मण समाज व्यवस्था में सत् या असत् अर्थात् स्पृश्य या अस्पृश्य शूद्रों के रूप में सम्मिलित किया था, किन्तु कभी–कभी एक ही कबीला कई–कई वर्णों अथवा जातियों में बट जाता था। उदाहरण के लिए हमें अमीर ब्राह्मणों, अमीर क्षत्रियों, अमीर वैश्यों, अमीर महाशूद्रों और अमीर बढ़इयों एवं सोनारों के उल्लेख मिलते हैं। शूद्र जातियों की संख्या में वृद्धि का कारण गुप्तोत्तर काल में यह भी था कि कई शिल्पों ने जातियों का रूप धारणा किया। गुप्तोत्तर काल में वणिज्य–व्यापार के पतन के कारण शिल्पियों की श्रेणियां रूढ़, गतिहीन, अधिकाधिक आनुवांशिक तथा स्थानीय होती चली गयी। अलग–अलग धंधों एवं श्रेणियों से संबंद्ध लोगों ने स्वयं को धीरे–धीरे ऐसे बन्द संकीर्ण समूहों में बांध लिया जो लगभग सभी प्रकार से जातियों के पर्याय बन चुके थे। बृहस्पति को उद्घृत करके अपरार्क ने यह दिखाया है कि श्रेणियों के प्रधान गलत काम करने वाले लोगों की प्रताड़ना तथा भर्त्सना कर सकते हैं तथा उन्हें श्रेणी–बहिष्कृत भी कर सकते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि पूर्व मध्यकालीन रचनाओं में नापित, मोदक, ताल्बुलिव, स्वर्णकार, मालाकार, शंखकार, सूत्रकार, चित्रकार आदि जिन जातियों का उल्लेख जनजातियों की तरह वर्णसंकर जातियों के रूप में हुआ है।[25] वे सब विभिन्न शिल्पों से जुड़ें समूहों से ही निकली है। गतिशीलता के अभाव के कारण अलग–अलग शिल्पों के विशेशज्ञों की अलग–अलग जाति बनती चली गयी।

अन्त्यजों एवं अस्पृश्यों की स्थिति :

जैसा कि अल्बरूनी का कथन है, शूद्रों के पश्चात् ऐसे लोग आते थे, जिन्हें अन्त्यज कहा जाता था जो विभिन्न प्रकार की सेवाओं को सम्पन्न करते थे और जिनकी गणना जातियों में नहीं की जाती थी, किन्तु जो किसी निश्चित शिल्प या व्यवसाय के सदस्य थे। इन शिल्पी संघों में धोबी, जूता बनाने वाला, जादूगर, टोकरी और शील्ड बनाने वाला, नाविक, मछुवारा, जंगली जानवरों और पक्षियों के शिकारी, बुनकर आते थे। धोबी, जूता बनाने वालों एवं बुनकरों के अतिरिक्त वे आपस में अन्तर्जातीय

Copyright © 2026, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

विवाह करते थे। चारों जातियां उनके साथ नहीं रहती थी। ये शिल्पी संघ चारों जातियों के ग्रामों एवं नगरों के नजदीक किन्तु उनके बाहर रहती थी।

इसके पश्चात् ऐसे भी लोग थे जिन्हें हादी, डोम, चाण्डाल और बधता कहा गया है जो किसी जाति या संघ में नहीं थे, वे एक सम्पूर्ण समूह थे और गांव की सफाई जैसे गन्दे कार्य करते थे।

धर्मशास्त्र सूची में प्राप्त सात अन्त्जयों (रजक, चर्मकार, नट, बुरूद, बांस में कार्य करने वाले, मेद और भिल्ल) को दुहराया गया है और कभी–कभी पूर्व मध्यकाल में उसे विस्तृत भी किया गया है। विज्ञानेश्वर ने इस समूह के अन्त्जयों को दूसरे सात प्रकार के अन्त्यजों से अलग किया है, जिन्हें 'अन्त्यावसायिन' कहा गया है जो पहले समूह से निम्नतर थे। अन्य विधिवेता हेमाद्रि (13वीं सदी) ने सात अन्तयजों की परम्परागत सूची में नौ अन्य निम्नजातियों को सम्मिलित कर दिया है–तक्षक (बढ़ई), स्वर्णकार, शौचिक (सिलाई करने वाले), तिलयन्त्री (तेली), सूत, चूक्रि (कुम्हार) एवं हवजी (शराब बेचने वाला), नापित (नाई) और लोहकार (लोहार)। बढ़ई, लोहार एवं स्वर्णकार का इस सूची में सम्मिलित करना महत्वपूर्ण है।[26]

इस प्रकार अन्त्यजों की संख्या और उनके सामाजिक स्थिति के विशय में व्यवस्थाकारों में मतभेद है जिसका कारण स्थानीय, क्षेत्रीय एवं धार्मिक कारक को सकते है। वृहत्रारदीय पुराण में कुछ जातियों का क्रम इस प्रकार मिलता है–चर्मकार, चाण्डाल, व्याध, रजक, कुंभकार लोहकार, स्वर्णकार, तन्तुवाय आदि, जिनमें उनके सामाजिक श्रेश्ठता को सोपान क्रम में दिया गया है। इसमें चर्मकार को चाण्डाल से निम्नतर माना गया है और बुनकर को सर्वश्रेश्ठ स्थान प्रदान किया गया है। जैन लेखक महेन्द्रसूरी के नर्मदासुन्दरीकथा में केवल धीवरों, चाण्डलों और लुब्धकों (शिकारियों) को निम्नतम माना गया है, और इस सूची में चर्मकारों का उल्लेख नहीं है।[27]

निम्न स्तर की संस्कृति एवं गन्दे तथा अपवित्र व्यवसायों से सम्बन्धित अन्त्यज जन्म से अस्पृश्य माने जाते थे जबकि पूर्व मध्यकाल में सामान्य रूप से अस्पृश्यता कई विधियों से उत्पन्न मानी जाती है–जैसे जन्म से अनुचित या अपवित्र व्यवसाओं के अनुगमन से, कुछ निशिद्ध कर्मों से अपने पापों के कारण मिले अपराध थे, अवैदिक धार्मिक सम्प्रदायों के अनुगमन के कारण और कतिपय भौतिक अशुद्धताओं के कारण। कुछ विचारकों के अनुसार निम्न कोटि के शूद्र भी अस्पृश्य थे, किन्तु अन्य के अनुसार अस्पृश्यता का विस्तार सामान्य शूद्रों तक कर दिया गया था।

अस्पृश्यता का व्यवहार प्रत्यक्ष रूप से पवित्रता एवं अपवित्रता के अत्यधिक एवं असाधारण भावनाओं से जुड़ा था। अतः पूर्व मध्यकाल में आदिम जनजातियो से अधिक नजदीकी सम्पर्क को अस्पृश्यता का एक प्रमुख कारण माना जाता है।[28] कुछ कवायली लोगों को अत्यन्त पिछड़े होने के कारण हिन्दू समाज में पूर्णतः नहीं खपाया जा सकता और उन्हें अछूत करार दिया गया। शूद्रों द्वारा सम्पादिक मूल–उत्पादन के व्यवसायों के प्रति श्रेश्ठतर वर्गों की घृणा अस्पृश्यता का अन्य कारण था। ऐसा प्रतीत होता है कि एक उच्चतर जीवन शैली को कायम रखने एवं उच्च एवं निम्न लोगों के मध्य

Copyright © 2026, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

एक भेद को सशक्त करने के लिए अस्पृश्यता का व्यवहार किया गया। पूर्व काल में कुछ विशेश प्रकार के अहेरियों तथा शिल्पियों को ही अस्पृश्य बना दिया गया था, किन्तु सामंती व्यवस्था में कुछेक खेतिहर जातियों को भी इस अवस्था में पहुंचा दिया गया। इसका कारण खेती–बारी के प्रति शासकों तथा पुरोहित का जितना घृणाभाव नहीं था उससे बढ़कर नई व्यवस्था का विरोध करने वाले पिछड़े खेतिहरों के प्रति उनका तिरस्कार भाव था। दूसरी ओर बहुत सारे शूद्रों को अस्पृश्यता की स्थिति में डाल दिये जाने से शेश शूद्रों को जो श्रेणीवद्ध समाज–व्यवस्था में अब वैश्यों की जगह आ गये थे, काफी सन्तोश प्राप्त हुआ होगा।[29]

पूर्व मध्यकालीन नारी की स्थिति :

पूर्व मध्यकालीन भारतीय महिला कन्या, पत्नी, माता एवं विधवा के रूप में भरणीय, पोशणीय एवं रक्षणीय थी, किन्तु कोई न कोई पुरूश उसकी देख–रेख करता था और वह अभिभावक के नियंत्रण में रहने को बाध्य थी। वर्ण विभाजित पितृ प्रधान समाज में महिलाओं को सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक एवं आर्थिक दृश्टि से पराधीन करने के प्रयत्न किये गये तथा उनके अधिकारों को समान नहीं माना गया। सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में उन्हें कुछ अधिकार दिये गये किन्तु कुछ ऐसी स्वतन्त्रतायें थी जिनसे स्त्रियां वंचित थीं। स्त्री और पुरूशों के निजी और सामाजिक आचरण की अच्छाई–बुराई के मापदण्ड भिन्न थे। व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों स्तरों पर नारी पर प्रभुत्व और अधिकार स्थापित कर उसे अधीनस्थ करने का प्रयत्न किया गया जो सामन्ती मानसिकता का लक्षण है।[30]

पूर्व मध्यकालीन भारत में पारिवारिक महिलायें विवाह के चुनाव में स्वतन्त्र नहीं थीं और जाति तथा कुल धर्म के सिद्धान्तों से बंधी हुई थीं, जिन्हें राज्य से भी मान्यता प्राप्त थी। स्वयंवर प्रथा का प्रमाण राजपरिवारों तक सीमित था, जिसमें कन्या स्वेच्छापूर्वक अपने पति का वरण करती थी। जनजातीय समाज में अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता के प्रमाण मिलते हैं। परवर्ती कालों में गांधर्व विवाह भी निचले वर्गों तक सीमित हो गया। प्राचीन काल में अनुलोम एवं प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह प्रचलित थे, किन्तु कालान्तर में दसवीं–बारहवीं सदियों में सवर्ग या सजातीय विवाह को ही सर्वोच्चता दी गई आरै अन्य वर्णों में द्विजों का विवाह कलिवर्ज्य घोशित किया गया। प्राचीन काल में कन्याओं का विवाह प्रौढ़ावस्था में होता था, किन्तु धर्मसूत्रों, स्मृतियों एवं पुराणों में युवा होने के पूर्व ही कन्याओं का विवाह कर देने की संस्तुति की गई। बाल विवाह के कारण जहाँ एक ओर कन्याओं को पति के चुनाव से वंचित किया गया, वहीं बाल वैधव्य की स्थिति ने उन्हें असहाय बना दिया। बाल विधवायें न नियोग कर सकती थीं न पुनर्विवाह और न ही आर्थिक दृश्टि से स्वतन्त्र थीं। उपनयन, के अधिकार से वंचित होने के कारण उनके धार्मिक अधिकारों का हनन हुआ और वे शूद्रों के समान न वेद मंत्रों का उच्चारण कर सकती थीं और न यज्ञों में भाग ले सकती थीं। इस प्रकार बाल विवाह ने उच्च वर्ग की महिलाओं के सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक अधिकारों का हनन कर उन्हें परतन्त्र बना दिया।

Copyright © 2026, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

वर्ण विभाजित पुरूश प्रधान समाज में नारियों को सम्पत्ति की तरह सुरक्षित रखने और पवित्रता, धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिये उन्हें संयमित एवं मर्यादित कर पर्दे में रखने के पीछे उन्हें पराधीन तथा परतन्त्र करने की प्रवृत्ति दृश्टिगत होती है। भारत में सती प्रथा के प्रमाण शताब्दी ई0प0ू से मिलने लगते हैं, विशेशकर राजधरानों एवं बड़े–बड़े वीरों के परिवार में, किन्तु इसका अधिक प्रचलन चौथी से सातवीं शताब्दियों में मिलने लगता है।[31] पूर्वमध्यकाल में कुछ शास्त्रकारों ने सती प्रथा का समर्थन किया है तो कुछ ने इसे आत्महत्या कहकर इसका प्रबल विरोध किया है। मेघातिथि ने सती प्रथा का विरोध किया है तो मिताक्षरा ने सती होना ही श्रेयस्कर माना है। तन्त्र लेखको ने भी इसका विरोध किया है।

लौकिक आधार पर सामाजिक स्तरीकरण एवं जाति व्यवस्था :

पूर्व मध्यकाल में जहां एक ओर जन्म एवं धर्म पर आधारित समाज का स्तरीकरण मिलता है, वहीं दूसरी ओर आर्थिक एवं राजनीतिक आधार पर भी समाज को स्तरीकृत करने के प्रमाण मिलते हैं। पूर्व मध्यकालीन रचना मयमतम् का विधान है कि चक्रवर्ती राजा का आवास ग्यारह मंजिला होना चाहिए, द्विजाति का नौ–मंजिला, नृप या साधारण राजा का सात–मंजिला, वैश्य तथा सैनिक अगुओं का चार मंजिला, शूदों का एक से लेकर तीन–मंजिला तक तथा सामंत–प्रमुख आदि का पांच मंजिला। इस अवास योजना में चारों वर्णों के अतिरिक्त विभिन्न स्तर के शासकों तथा सामन्तों का पूर्ण ध्यान रखा गया है। यहां वर्ण व्यवस्था एवं सामंती व्यवस्था में समन्वय किया गया है।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि कुछ रचनाओं में वर्णों की ओर ध्यान न रखकर केवल सामंती प्रभुओं और सामंतों का ध्यान रखा गया है। भूस्वामित्व एवं राजसत्ता पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण का उल्लेख अपराजित पृच्छा नामक शिल्प ग्रन्थ में मिलता है। इसमें नौ वर्गों के सामन्ती आवासों के आकार–प्रकार का निर्धारण किया गया है– महापति, नराधिप, महामण्डलेश्वर, माण्डालिक, महासामंत, सामन्त, लघु सामंत, चुतुरांशिक और स्वल्प राश्ट्र।

यह उल्लेखनीय है कि राजपूत शासकों में स्वदेशी क्षत्रिय, ब्राह्मण एवं कुछ जनजातियां ही नहीं यहां की संस्कृति में विलीन होने वाली विदेशी जातियां भी थी। राजतंरगिणी से ज्ञात होता है कि किस प्रकार कश्मीर में कृशक, जाति व्यवस्था का अतिक्रमण करते हुये धन एवं सम्पत्ति को प्राप्त कर डामर प्रमुख होना प्रारंभ किये।[32] पूर्व मध्यकाल में राजस्थान एवं गुजरात में अनेक अज्ञात कुलों एवं जनजातियों के सदस्य भूस्वामी शासकवर्ग में परिवर्तित हो गये, जो राजपुत्र क्षत्रियों के प्रसिद्ध वंश में सम्मिलित हो गये। जो लोग भूस्वामी शासक वर्ग के सदस्य हो गये थे, वे राजपुत्र या क्षत्रिय स्तर की मांग करने लगे थे किन्तु ऐसे लोगों में अनेक ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र वर्ण के लोग भी थे उन्होनें अपने सम्बन्ध अपनी जातियों से पृथक नहीं किये थे। यह युक्ति कल्पतरू के उस संदर्भ से स्पश्ट हो जाता है जिसमें राजा भोज शासक वर्ग को संबोधित कर रहे हैं, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी सम्मिलित थे।[33]

Copyright © 2026, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

निष्कर्ष

उत्तर भारत में हर्षवर्धन एवं दक्षिण भारत में चालुक्य शासक पुलकेशिन द्वितीय के बाद कोई ऐसा शक्तिशाली शासक नहीं हुआ जो भारत में एकता स्थापित कर सामाज को संगठित करके रख सकें। राजपूत शासको ंने न केवल उत्तरी भारत को पुनर्गठन किया वरन् हिन्दू संस्कृति, सभ्यता, रीति–रिवाज एवं जीवन सारणी को पुनः जीवन दान दिया और भरपूर संरक्षण भी प्रदान किया।

उपर्युक्त पृश्ठभूमि में यह भी प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है कि पूर्व मध्यकाल में काल एक ऐसे सामाजिक संरचना का प्रतिनिधित्व करता है जो पूर्ववर्ती सामाजिक संरचना से भिन्न है। यह दृश्टिकोण सामाजिक परिवर्तन का वि लेशण यूरोपीय इतिहास से प्राप्त ढांचे के अन्तर्गत राज्य और अर्थव्यवस्था को समाहित करता है। इस व्यापक ढांचे में अनेक समानताओं के साथ विभिन्नताएं भी हैं किन्तु ये विभिन्नतायें व्यक्तिगत इतिहासकारों के परिवर्तन सम्बन्धी विवेचनों के पद्धतियों पर निर्भर करती हैं।

पूर्व मध्यकाल में सामाजिक संगठन में जाति का नियमन एवं इसका कठोरता में प्रगति, जाति व्यवस्था की आलोचना एवं विरोध, पूर्व मध्यकालीन वर्ण, धर्म, संशोधन एवं परिवर्तन, आपद्धर्म, सामान्य धर्म की रूप में कृषि की अवधारणा, वर्ण और आश्रम का सम्बन्ध, ब्राह्मण की स्थिति, क्षत्रिय एवं राजपूतों की स्थिति, वैश्यों की अवनति एवं शुद्ध का उत्थान एवं अन्त्यजों एवं अस्पृश्यों की स्थिति, पूर्व मध्यकालीन नारी स्थिति, सामाजिक स्तरीकरण एवं जातीय व्यवस्था आदि का व्यापक वर्णन एवं विश्लेषण किया गया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

(यादव, बी0 एन0 एस0, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया इन द ट्वेल्थ सेंचुरी, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 1973, पृ0 04)

(पंडित आर. एस. अनुवादक, राजतरंगिणी, भाग 01, पण्डित पुस्तकालय वाराणसी, 1935, पृ0 512)

(फ्लीट, सी0 आई0 आई0 वाल्यूम तृतीय, पृ0 146)

(शर्मा, जी0आर0, इण्डियन आक्योलॉजी ए रिब्यू, 1954–55 पृ0 18)

गृहस्थ काण्ड में उद्घृत देवल), पृ0 225, याज्ञवल्क्य पर विज्ञानेश्वर भाश्य में उदघृत देवल), प्रथम, 120, पराशर पर माधव, आचार काण्ड, प्रथम, 64

लघु आश्वलयान, 22.5 वृद्ध हारीत, 7.181

शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, मोतीलाल बनारसीदास, 1959, पृ0 247–249

प्रभु, पी0एच0, हिन्दू सोशल आरगनाइजेशन, पोपुलर प्रकाशन, बाम्बे, 1940, पृ0 300

शर्मा, आर0एस0, पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, 1996, पृ0 83, 193

जायसवाल, सुवीरा, 'कास्ट इन' द सोसियो–एकोनामिक फ्रेमवक ऑफ अर्ली इण्डिया, अध्यक्षीय भाशण, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1977 पृ0 1524

भागलपुर अनुदान एवं देवपारा प्रशस्ति (ए0ई0, वाल्यूम प्रथम, पृ0 308)

ऐयंगर, के0वी0आर0, गृहस्थ काण्ड, इन्ट्रोडक्शन, पृ0 78

राजतरंगिणी, अपेनडिक्स बी0 अनु0 पण्डित आर0 एस0, पण्डित पुस्तकालय वाराणसी, 1935, पृ0 204

उपाध्याय, बी0एस0, दि सोशियोरेलिजस कन्डीशन ऑफ नादर्न इण्डिया, चौखम्बा संस्कृत, 1964, पृ0 119–125

क्षेमेन्द्र, औचित्यविचारचर्चा पृ0 160

मितक्षरा, एस0बी0एच0 सिरिज, इलाहाबाद, 1918, पृ0 210

Copyright © 2026, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

मजूमदार, आर०सी०, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, बी० आर० पब्लिशिंग कॉपोरेशन, नई दिल्ली, 1971, पृ० 580
शर्मा दशरथ, राजस्थान थ्रू द एजेज, Rajasthan State Archives, 1990 पृ० 444
वैद्य, सी०वी०, हिस्ट्री ऑफ मेडुवल हिन्दू इण्डिया, द्वितीय, द ऑरिएन्टल बुक सप्लाईंग एजेंसी, पूना, 1921 पृ० 5
ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द, राजपूताने का इतिहास, वाल्यूम प्रथम, वैदिक मंत्रालय, अजमेर, 1993, पृ० 49
ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, हिन्दुस्तान एकेडमी, संयुक्त प्रान्त, प्रयाग, 1928, पृ० 43
शर्मा, आर०एस० पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, 2009, पृ० 174
गृहस्थ काण्ड में उद्धत देवल, पृ० 255
(यादव, बी० एन० एस०, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया इन द ट्वेल्थ सेंचुरी, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 1973, पृ० 38)
मजूमदार, बी०पी०, सोशियो–एकोनामिक हिस्ट्री ऑफ नादर्न इण्डिया, (1030-1194 A.D.) Firma K.L. Mokhopadhyay, कलकत्ता, 1960, पृ० 211
हेमाद्रि, चतुर्वर्ग चिन्तामणि, प्रायाश्रित खण्ड पृ० 998
शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू द एजेज, वाल्यूम प्रथम, Rajasthan State Archives, 1990, पृ० 430
राय, एस०सी०, स्टडीज इन इण्डियन एन्थ्रोपोलाजी, आर. के. मैत्रा, 1966, पृ० 69,
शर्मा, आर०एस०, पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज, राजकमल प्रकाशन, 2009, पृ० 176
शर्मा, आर०एस०, पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज, राजकमल प्रकाशन, 2009, पृ० 196
दुबे, लालमणि, अपराजित पृच्छा–ए क्रिटिकल स्टडी, लक्ष्मी पब्लिकेशन, 1987 पृ० 78–79
(यादव, बी० एन० एस०, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया इन द ट्वेल्थ सेंचुरी, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 1973, पृ० 173–174)
(मजमूदार, दि क्लैसिकल एज, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1954, पृ० 153–163)

Cite Your Article as
Dr. Sushil Kumar. (2026). PURV MADHYAKALIN UTTAR BHARATIY ITIHAS KI SAMAJIK SANRACHANA: EK VISHLESHANATMAK VIVECHANA. Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies, 14(94), 80–91. https://doi.org/10.5281/zenodo.20084151

Copyright © 2026, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies